भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकलपनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

भारतीय संस्कृति और धर्म मीमांसा

भावना जैन
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय संस्कृति के दर्शन का मूल आधार धर्म है। वास्तव में भारतीय परंपरा में संस्कृति और धर्म एक-दूसरे के पर्याय माने गए हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन में धर्म ही जीवन का आधार रहा है। इसी कारण वेदों को धर्म का मूल स्रोत कहा गया है। मनुस्मृति (2/6) में स्पष्ट कहा गया है— ''वेदः स्मृतिः शीलं च साधूनां चात्मनस्तुष्टिः एतच्चतुर्विधं प्रमाणं धर्मस्य'' अर्थात् धर्म का मूल वेद है, उसके आधार पर बनी स्मृतियाँ, सज्जनों का आचरण और अंतःकरण की तुष्टि ही धर्म माने जाते हैं। धर्म कोई संकीर्ण नियम मात्र नहीं, बल्कि वह सार्वभौमिक शक्ति है जो जीवन को दिशा देती है। वेद संमार्ग के शास्त्र हैं और समाज में धर्म को स्थिर रखने वाली शक्ति भी हैं। बाह्य प्रवृत्तियाँ यदि वेदसम्मत न हों तो उन्हें अधर्म माना जाता है।

भारतीय साहित्य में धर्म की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं मिलती, क्योंकि धर्म का स्वरूप काल, परिस्थिति और स्थान के अनुसार बदलता रहता है। धर्म शब्द इतना व्यापक है कि प्रत्येक प्रसंग में उसका निर्णय विवेक बुद्धि से करना पड़ता है। यही कारण है कि धर्म को कर्तव्य की सही पहचान करने की बुद्धि का बल भी कहा गया है।

आपस्तम्भ धर्मसूत्र (6/20/6) में कहा गया है— ''धर्मौ वा अधर्मो वा न हि वदतः, न देवाः गन्धर्वाः न पितरः ब्रुवन्ति।'' अर्थात् धर्म और अधर्म अपना परिचय स्वयं नहीं देते, न देवता, न गंधर्व, न ही पितर यह बतलाते हैं कि कौन-सा आचरण धर्म है और कौन अधर्म।

भारतीय परंपरा ने धर्म को परीक्षण और परिवर्तनशीलता के साथ स्वीकार किया। किसी भी जीवित समाज में बने रहने और बदलने की दोनों शक्तियाँ आवश्यक होती हैं। यही कारण है कि धर्म, आचार के रूप में व्यक्त होकर स्थिरता और लचीलापन दोनों रखता है। भारतीय समाज का इतिहास गवाह है कि युगों के उत्थान-पतन, संघर्ष और आक्रमणों ने समाज को हिलाया-डुलाया अवश्य, किन्तु धर्म की डोर

कभी टूटी नहीं। समय के साथ धर्म में परिवर्तन हुए, परंतु समाज की एकता नहीं बिखरी। मनु का कथन है कि धर्म का आधार केवल ग्रंथ या परंपरा नहीं, बल्कि श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण भी है। धर्म का नैतिक रूप उन्हीं के विचारों और चरित्र पर आश्रित रहता है। यही कारण है कि भारत की संस्कृति में धर्म हमेशा जीवंत और प्रगतिशील रहा है।

संस्कृति मूलतः समाज पर आधारित होती है। समाज के आचरण, मान्यताओं और जीवन-शैली के अनुरूप ही संस्कृति का स्वरूप प्रतिबिंबित होता है। भारतीय समाज ने जिस धर्म को स्वीकार किया, वह केवल परलोक के सुख का साधन नहीं है, बल्कि मुख्यतः लोकव्यवहार को सुव्यवस्थित करने वाला तत्व है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विद्याओं की गणना करते हुए स्पष्ट किया है कि लोकयात्रा (सामाजिक जीवन) को सुचारु रूप से चलाने के लिए धर्म का उद्देश्य लोगों को संमागज़ में बनाए रखना है। अभिप्राय यह है कि धर्म, समाज को संचालित करने वाले नियमों का ही दूसरा नाम है।

भारतीय संस्कृति ने धर्म को इस रूप में स्वीकार किया कि वह मानव जीवन को अभ्युदय (भौतिक प्रगति) और श्रेय (आध्यात्मिक कल्याण), दोनों की दिशा में ले जाने वाला है। इसीलिए धर्म को समाज का धारक और मार्गदर्शक माना गया।

भारतीय संस्कृति में धर्म मात्र नियमों का समूह नहीं है, अपितु वह तत्व है जो— अनन्त है, ज्ञानस्वरूप है, चिरंतन है। भारतीय धर्म ने सर्वप्रथम मनुष्य के सम्मुख एक ऐसी परम चेतना (सत्ता) में विश्वास रखने की बात रखी, जो विश्वव्यापी और विश्वातीत है, जिससे समस्त जगत उत्पन्न होता है और जिसमें अंततः विलीन हो जाता है। यह सनातन और अनन्त सत्ता ही धर्म का आध्यात्मिक आधार है। दूसरे, धर्म ने मनुष्य से यह अपेक्षा की कि वह अपने जीवन को विकास और अनुभव के द्वारा उच्चतर चेतना की ओर अग्रसर करे। इसके लिए धर्म ने उसे ज्ञान, साधना और आध्यात्मिक अनुशासन का एक बहुशाखीय और निरंतर विस्तृत होने वाला मार्ग प्रदान किया। तीसरे, जो लोग अभी इस उच्चतर सोपान के लिए तैयार नहीं थे, उनके लिए धर्म ने एक सामाजिक और नैतिक ढांचा प्रस्तुत किया। यह ढांचा व्यक्ति और समाज के लिए अनुशासन, आचार-व्यवहार, नैतिक विकास और आत्मसंयम का साधन बना। इस प्रकार हर व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता और प्रकृति के अनुसार क्रमशः प्रगति कर सके और अंततः उस महत्तर जीवन के लिए तैयार हो सके।

श्री अरविन्द का यह कथन बिल्कुल यथार्थ है कि संस्कृति मानव-प्रकृति के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। संस्कृति जीवन का नियमन करने वाले नियमों का समूह है, और इन नियमों के भीतर धर्म की गति प्राण के समान है। धर्मविहीन कोई भी

नियम न तो स्थायी हो सकता है और न ही कल्याणकारी। चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, धर्म जीवन की सम्पूर्णता को प्रभावित करता ही है, बशर्ते कि मनुष्य की बुद्धि उसका विरोध न करे।

भारतीय समाज में नियम का पर्याय धर्म स्वीकार किया गया। जो नियम धर्म द्वारा समर्थित होते, वही समाज के लिए मान्य होते। इस प्रकार धर्म ने नियमों को केवल बाह्य नियंत्रण का साधन न बनाकर, व्यक्ति को धर्ममय बनाने का साधन बनाया। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में स्वनियंत्रण को बाह्य नियंत्रण से अधिक महत्त्व दिया गया। नियम तभी ग्राह्य हैं जब वे समाज के हृदय से स्वीकृत हों। यही संस्कृति की उदारता और मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण है।

भारतीय संस्कृति में धर्म को कभी संकीर्ण प्रणाली के रूप में नहीं देखा गया। यह अनेक वस्तुओं में रहने वाली कोई वस्तु नहीं है। न ही अन्य पदों के साथ समान स्तर पर रहने वाला कोई तत्व है। बल्कि धर्म संपूर्ण का दर्शन है, जीवन की सभी गतिविधियों और आंतरिक शक्तियों को प्रकाशित और नियंत्रित करने वाला प्राण तत्व है। धर्म के आलोक में ही भारतीय संस्कृति का पुनरावलोकन और पुनर्मूल्यांकन संभव है।

भारतीय दृष्टिकोण में धर्म की अर्थगत व्याप्ति अत्यंत व्यापक है। इसका क्षेत्र लौकिक से परलौकिक सिद्धि तक विस्तृत है। इसमें व्यक्ति और समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र सभी का समावेश हो जाता है। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है— आचरण की पवित्रता, मानवतावादी दृष्टि, विधि-निषेधों का पालन तथा लोकशास्त्र के सिद्धांतों का अनुसरण।

वस्तुतः धर्म एक स्वायत्त शक्ति है। राजनीति, अर्थशास्त्र या किसी अन्य लोकानुशासन से इसकी स्थापना नहीं की जा सकती। लेकिन अकेले धर्म भी पर्याप्त नहीं है; उसे समाज के अन्य आयामों (अर्थ, काम, राजनीति, शिक्षा आदि) के साथ मिलकर ही जीवन की पूर्णता को साधना होता है। इस समग्रता के माध्यम से ही व्यक्ति और समाज का संतुलित विकास संभव है।

धर्म स्थिर और जड़ नहीं है; वह गतिशील है। उसकी गतिशीलता ही उसे नवीन परिवर्तनों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति देती है। ह्वाइटहेड ने अपनी कृति 'साइन्स एण्ड दा मॉर्डन वर्ल्ड' में पश्चिमी धर्मों के संदर्भ में लिखा है कि— ''कोई भी धर्म तब तक अपनी प्राचीन सत्ता को बनाए नहीं रख सकता, जब तक वह परिवर्तनशीलता को उसी शक्ति के साथ स्वीकार न कर ले।''

भारतीय धर्म इस दृष्टि से विशेष है कि उसने परिवर्तनशीलता के साथ-साथ सृजनशीलता को भी स्वीकार किया। किंतु, जैसा कि टेन्निसन ने कहा— ''विज्ञान

और तकनीकी प्रगति का अर्थ पवित्रता एवं अलौकिकता के प्रति सम्मान का अभाव नहीं होना चाहिए।'' यदि धार्मिकता का अभाव हो जाए तो यह प्रगति मानव संस्कृति के लिए विध्वंसकारी शक्ति सिद्ध होगी, कल्याणकारी नहीं।

भारतीय धर्म और आध्यात्मिक संस्कृति की आत्मा युग-युगांतर से एक समान तेजस्विता से युक्त रही है, यद्यपि उसका बाह्य रूप परिवर्तित होता रहा। इसका कारण केवल प्राचीनता से चिपक कर बैठ जाना नहीं है, बल्कि धर्म के शाश्वत स्वरूप को हृदयंगम करने की प्रेरणा ही इसका मूल आधार रही है। यही कारण है कि उन्नतशील जातियों ने अपने जीवन और विकास की रक्षा के लिए जिन नियमों और आदशोज़ं को अपनाया, वे ही उनके लिए धर्ममार्ग और धर्मादर्श बने।

भारतीय धर्म का अद्वितीय पक्ष इसकी सार्वभौमिक दृष्टि है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध वाक्य— एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (एक ही सत्य है, विद्वान उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं) यह सिद्ध करता है कि भारतीय धर्म ने विभिन्न मतों को एक साथ रखने की प्रेरणा और मान्यता दी। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने यह भी चेतावनी दी कि— धर्मो रक्षति रक्षित:, धर्मो हन्ति हत:। अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है, और जो धर्म का नाश करता है धर्म उसका नाश कर देता है।

स्वामी विवेकानन्द ने आत्मा को ही एकमात्र सत्य धर्म कहा। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि धर्म मानव जीवन का वह अंग है जो हमें भली प्रकार कायज़ करने की प्रेरणा प्रदान करता है। अर्थात् धर्म केवल बाहरी व्यवस्था नहीं, बल्कि आंतरिक प्रेरणा है जो व्यक्ति और समाज को उच्चतर आदर्शों की ओर अग्रसर करती है।

भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान अत्यंत गहन और व्यापक है। डॉ. विश्वनाथ सिंह ने इसका तात्त्विक विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि धर्म वह शक्ति है जो अनादिकाल से मानव जीवन को आध्यात्मिक, सामाजिक, भौतिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक क्षेत्रों में प्रगति की प्रेरणा प्रदान करती आई है। धर्म किसी एक विशेष मत या पंथ से बंधा हुआ नहीं है, बल्कि यह सार्वभौमिक मूल्यों और शाश्वत सत्यों पर आधारित होने के कारण मानव धर्म तथा सनातन धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए इसे किसी भौगोलिक अथवा जातीय सीमा में बाँधना उचित नहीं माना जाता।

भारतीय संदर्भों में धर्म किसी एक शैली, संप्रदाय या मतवाद का नाम नहीं है, बल्कि यह जीवन के उद्देश्यों और जीने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य और दर्शन में हमें ऐसे गहन सत्य मिलते हैं जो अन्य संस्कृतियों

की सीमाओं से कहीं अधिक व्यापक और गूढ़ हैं। विक्टर कोसीन ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा कि जब हम भारत की दार्शनिक और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन करते हैं तो हमें पूर्व की आध्यात्मिक महानता के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है।

भारतीय समाज में आध्यात्मिकता केवल विचारों तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह जीवन की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। इसने रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान और सामाजिक व्यवहार सभी को दिशा दी। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति करुणा और सहयोग रही है- असहाय के प्रति सहानुभूति और दुखियों के दुख को दूर करने का प्रयास धर्म का ही प्रत्यक्ष स्वरूप है। यही प्रवृत्ति समाज में नैतिकता की आधारशिला रखती है।

किन्तु आधुनिक विज्ञान और तकनीकी युग में धर्म पर प्रश्नचिह्न खड़े किए जाते हैं। यह कहा जाने लगा है कि धर्म अब व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य द्वेष, घृणा और युद्ध का कारण बनता जा रहा है। वस्तुत: यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब धर्म अपनी सार्वभौमिकता को छोड़कर संकीर्ण मान्यताओं के घेरे में सीमित हो जाता है। भारत ही नहीं, विश्व के इतिहास में ऐसे अवसर आए जब धर्म ने शांति के बजाय संघर्ष को जन्म दिया।

प्राचीन भारत में धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं था। वहाँ कभी भी हठवादिता का स्थान नहीं रहा। वैदिक दर्शन षड्दर्शन के रूप में विकसित हुआ और उसने सत्य की खोज को विविध मार्गों से प्रेरित किया। जैन और बौद्ध मतों ने भारतीय चिंतन को गहराई से आंदोलित किया। चार्वाक का अनीश्वरवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण भी भारतीय भूमि से ही उत्पन्न हुआ। इन सभी मतों में भिन्नता होते हुए भी एक साझा उद्देश्य था-परम सत्य की ओर अग्रसर होना और समाज को विवेकपूर्ण ढंग से आगे बढ़ाना।

भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही कि उसने विभिन्न विचारधाराओं को आत्मसात किया और कभी भी मूल रूप से विचलित नहीं हुई। यहाँ तक कि विदेशी आक्रमणकारियों ने जब भारत पर आधिपत्य स्थापित किया तब भी भारतीय संस्कृति ने उन्हें अपने में समाहित कर लिया। परिणामस्वरूप वे भी इस भूमि के समाज का अंग बन गए। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का धमज़्तत्व समय-समय पर विभिन्न धाराओं से प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकता और सार्वभौमिकता को बनाए रखने में सफल रहा।

भारतीय संस्कृति की विशेषता यह रही है कि विभिन्न कालों में समाज की बदलती प्रवृत्तियों ने अनेक प्रकार के साहित्य, कला और दर्शन को जन्म दिया, किंतु

इन सबके बावजूद संस्कृति की मूल धारा कभी अपने विपरीत नहीं हुई। बौद्धिक संस्कृति की ऐहिक प्रवृत्ति ने जब अधिक बल पाया तब लौकिक बुद्धि की अभूतपूर्व उन्नति हुई। राजनीतिक और सामाजिक विकास हुआ, सौन्दर्य तथा इन्द्रियानुभूति पर भी विशेष बल दिया गया, किन्तु भारतीय समाज ने सदैव अपनी संस्कृति की आत्मा को सुरक्षित रखा और धर्म-दर्शन की व्याख्या में अपने को दृढ़ता से जोड़े रखा।

भारतीय मनीषियों ने धर्म को केवल उपदेश मात्र न मानकर जीवन के भौतिक और आत्मिक दोनों पक्षों के विकास का मार्गदर्शक बनाया। उन्होंने समय और परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराया और सत्य को केवल साधना तक सीमित न रखकर उसे जीवन के आचरण में उतारने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि भारतीय समाज में पाश्चात्य समाज की तरह यह प्रश्न कभी नहीं उठा कि धर्म बड़ा है या आचार। यहाँ तो धर्म ही नीति है और धर्म ही आचार।

मनुस्मृति ने स्पष्ट किया है कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीर, विद्या, सत्य और क्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं। इन लक्षणों में नैतिकता और आचार शास्त्र पूर्णतः समाहित हो जाते हैं। योग दर्शन में यम और नियम भी इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हैं।

पाश्चात्य चिंतकों ने भी धमज़ और नैतिकता के संबंध को स्वीकार किया है। ऑगस्टस क्रॉम्टे के अनुसार धर्म ही नैतिकता की जननी है। दार्शनिक देकार्ते, लॉक और पेले का भी मत है कि नैतिकता धर्म से ही उत्पन्न होती है। कांट ने धर्म को नैतिकता पर आधारित बताया और मोंटेस्क्यू ने भी इस विचार को स्वीकार किया। मैथ्यू ऑर्नाल्ड ने तो यहाँ तक कहा कि धर्म, नैतिकता का भावात्मक रूप है।

इन सभी विचारों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भारतीय दृष्टिकोण में धर्म और आचार अलग-अलग या विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक ही सत्य को प्रकट करने वाले हैं। भारतीय संस्कृति ने धर्म को जीवन की व्यवहारिक नीति और आचार दोनों में रूपांतरित किया, जिससे उसकी निरंतरता और स्थायित्व बना रहा।

भारतीय संस्कृति के संदर्भ में धर्म उसका अभिन्न और मूलभूत अंग है। यह केवल आस्था या पूजा के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप में कार्य करता रहा है। भारतीय मनीषा ने धर्म को अत्यंत गहराई से आत्मसात किया है, जिसके कारण यहाँ की साहित्यिक, कलात्मक और दार्शनिक अभिव्यक्तियाँ धर्म से अनुप्राणित होती रही हैं।

पाश्चात्य जगत में भी संस्कृति और जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वहाँ के समाज में भी रहन-सहन, परंपराओं और नैतिक मूल्यों पर धर्म की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि धर्म किसी भी संस्कृति की

आत्मा है, जो मानव जीवन की दिशा और मर्यादा निर्धारित करता है।

भारतीय संस्कृति की प्रेरणा का मूल आधार धर्म और आध्यात्मिकता रही है। यहाँ यह मान्यता रही है कि जीवन का परम सत्य धर्म है और धर्म के आलोक में ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का विवेचन भी इसी आधार पर किया गया है। धर्म को जीवन का प्रारम्भ माना गया है और मोक्ष को उसकी परम सिद्धि। अर्थ और काम को हेय नहीं समझा गया, किंतु उनकी मान्यता तभी है जब वे धर्म के अधीन और धर्म द्वारा नियंत्रित हों।

इस प्रकार धर्म केवल परलोक की प्राप्ति का साधन नहीं है, बल्कि वह लोककल्याण और ऐहिक उन्नति का भी मागज़ प्रशस्त करता है। इसे प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि धमज़ और मोक्ष दो मजबूत बाँध हैं और अथज़ तथा काम उन बाँधों के बीच प्रवाहित नदी के समान हैं। जब तक बाँध सुरक्षित रहते हैं, तब तक अथज़ और काम का प्रवाह समाज के लिए कल्याणकारी और नियंत्रित रहता है। किंतु जैसे ही धमज़ और मोक्ष के बाँध कमजोर या भंग होते हैं, वैसे ही अथज़ और काम का उफान समाज की मयादज़ओं को तोड़ देता है और प्रलय का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति ने यह सुनिश्चित किया कि जीवन के सभी पुरुषार्थ धर्म की मयादज़ में रहें। धर्म ही जीवन का नियामक, संस्कृति का प्रेरक और मोक्ष का मार्गदर्शक है।

श्री अरविन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति में धर्म का स्वरूप ज्ञान पर आधारित जीवन की संपूर्णता है। आत्म-विकास और जीवन संबंधी सत्य का ज्ञान प्राप्त करना तथा उस ज्ञान की अवस्था में अपने कर्मों को समुचित दृष्टिकोण से संपन्न करना ही भारतीय दृष्टि में धर्म कहलाता है। इसी कारण भारतीय संस्कृति पूर्णतः धार्मिक जीवन से अनुप्राणित रही है। यह प्रवृत्ति एक ओर आध्यात्मिक जीवन शैली को जन्म देती है, तो दूसरी ओर नैतिकता की मर्यादाओं का निर्माण करती है। भारतीय समाज ने निरंतर इन्हीं मर्यादाओं का पालन करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय के अंतिम लक्ष्य- मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न किया है।

भारतीय समाज में धर्म और रीति-रिवाज अलग-अलग नहीं माने जाते, बल्कि एकाकार होकर जीवन में आत्मसात हो जाते हैं। यही कारण है कि यहाँ अनेकता में एकता की अद्‌भुत परंपरा देखने को मिलती है। इसी प्रसंग में इतिहासकार विसेंट स्मिथ का कथन उल्लेखनीय है कि ''भारतीय एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय की विभिन्नताओं से परे स्थापित है। इस आश्चर्यजनक उपलब्धि का श्रेय भारतीय संस्कृति की धर्म-प्रेरित भावना को ही जाता है।''

भारतीय संस्कृति का दर्शन यहाँ के जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति को

सृजनात्मक ढंग से जीने का मार्ग प्रदान करता है। इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें किसी एक मार्ग को सर्वोपरि मानने का दुराग्रह नहीं है। भारतीय संस्कृति ने विविध मतों, सम्प्रदायों और परंपराओं को आत्मसात करके उनमें सामंजस्य स्थापित किया है।

भारतीय धर्म की उदारता और सहिष्णुता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यह रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड की भिन्नताओं को संकीर्ण दृष्टिकोण से नहीं देखता, बल्कि उन्हें स्वीकार कर व्यापक सांस्कृतिक एकता का सूत्र बनाता है। यही कारण है कि भारत ने विविधता में भी अद्वितीय सांस्कृतिक एकता को प्राप्त किया है।

भारतीय धरती पर धर्म का स्वरूप किसी संकीर्ण मत या परंपरा में बँधा नहीं रहा, बल्कि उसने वेदों से लेकर आधुनिक धार्मिक आंदोलनों और दार्शनिक पद्धतियों तक एक निरंतर प्रवाह की भाँति अपनी उपस्थिति बनाए रखी। यह प्रवाह विभिन्न मनीषियों के चिंतन और योगदान से और अधिक समृद्ध तथा जीवित बना। भारतीय धर्म की विशेषता यह रही है कि उसकी जड़ें किसी स्थिर विचारधारा में नहीं, बल्कि एक जीवंत और गतिशील प्रक्रिया में निहित हैं। यही कारण है कि परिस्थितियों के परिवतज्न के साथ वह स्वयं को ढालता रहा और अधिक व्यापक बनता गया।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारतीय धर्म और संस्कृति की इसी सार्वभौमिकता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि भारत की भूमि पर विभिन्न जातियों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोग आकर बसे और अनेक संघर्षों के बावजूद उन्होंने एक ही सभ्यता के अंतर्गत रहना सीख लिया। इस सभ्यता की विशेषता यह रही कि इसमें सभी प्राणियों में निहित एक अदृश्य वास्तविकता के प्रति आस्था, आध्यात्मिक अनुभव का महत्व, संस्कारों की सापेक्षता, बौद्धिक आदर्शों का आदर, और प्रत्यक्ष विरोधों को समेटकर समरसता लाने की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय धर्म के आदर्श किसी अंधविश्वास पर न होकर जीवन के गहन सत्यों पर आधारित हैं। यही कारण है कि वह सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता रखता है। भारतीय धर्म किसी केंद्रवादिता पर आधारित न होकर एक व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। इसी कारण विभिन्न समाज और धमज्ञ समय-समय पर इसकी ओर आकर्षित हुए और भारतीय संस्कृति ने उन्हें आत्मसात कर लिया। यद्यपि विदेशी संस्कृतियों ने भारत को प्रभावित किया, पर वे उसे पराजित नहीं कर सकीं। इसके विपरीत, भारतीय संस्कृति ने अपनी आत्मसात करने की शक्ति से उन्हें अपने रंग में रंग दिया। इसका उदाहरण अकबर द्वारा स्थापित दीन-ए-इलाही है, जिसे समाज ने कभी व्यापक रूप से स्वीकार नहीं किया। अंतत: वह भी विभिन्न विचारधाराओं में घुल-मिलकर भारतीय संस्कृति का ही एक अंग बन गया।

भारतीय धर्म की शक्ति इस विचार में निहित है कि सभी धर्मों का मूल सिद्धांत ज्ञान है और वह ज्ञान परमात्मा के रूप में प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में विद्यमान है। यही सार्वभौमिक दृष्टि भारतीय संस्कृति को विश्व में अद्वितीय और जीवन्त बनाए रखती है।

महाभारत में धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि उसका मूल उद्देश्य केवल बाह्य नियमों या कर्मकांडों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह व्यक्तिगत आचरण और नैतिकता से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि हमें दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो हम स्वयं के लिए अप्रिय मानते हैं। यदि कोई कार्य हमारे प्रति किया जाए और वह हमें असहज करे, तो वही धर्म का उल्लंघन है। शांति पर्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने मन, वचन और कमज़ से निरंतर दूसरों के कल्याण में लगा रहता है, जो सदा मित्रवत रहता है, वही धमज़ को ठीक-ठाक समझता है।

भारतीय धर्म केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक अनुष्ठानों और मानवता की भवितव्यता में व्यक्ति को मार्गदर्शन देता है। यह भवितव्यता गति के रूप में है, न कि स्थिर छोर के रूप में। इस प्रकार, भारतीय संस्कृति अविराम और सतत् चलती रही है। धर्म का स्वरूप नियमों और जन्मों का ऐसा ढांचा प्रस्तुत करता है, जिसमें निरंतर परिवर्तन की अनुमति और संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं।

भारत एकमात्र ऐसा देश है जहाँ मंदिर, गिरिजाघर और मस्जिदें शांति और सह-अस्तित्व के साथ विद्यमान हैं। यह पक्षपातहीन विवेक की प्रवृत्ति भारतीय धार्मिक परंपरा में व्याप्त होने का प्रमाण है। भारतीय संस्कृति की धर्म संबंधी मान्यता ही इसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से विशिष्ट बनाती है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार, भारतीय संस्कृति अनेक महान आत्माओं के प्रयासों से निर्मित हुई। उनके संघर्ष और पीड़ाओं से इसका ढांचा बना। समय की लंबी अवधि में इसमें मिट्टी का रंग, घाव और धब्बे समा गए हैं। यही विरोधाभास इसे आकर्षक भी बनाता है और चौंकाने वाला भी।

भारतीय संस्कृति ने अपने इतिहास में अनेक समकालीन संस्कृतियों को स्वीकार किया, उनमें से कई विलीन हो गईं और कुछ नई संस्कृतियाँ लुप्त हो गईं। फिर भी भारतीय संस्कृति जीवित रही। इसकी आत्मा की दीपक की लौ कभी भले कांपी हो, लेकिन बुझी नहीं। यही इसकी अद्वितीयता और अनन्त जीवनी शक्ति का प्रमाण है।

संस्कृति से मनुष्य के धर्म का परिचय होता है। यह धर्म उस भावनात्मक आधार को प्रस्तुत करता है, जो व्यक्ति ने अपने समाज से ग्रहण किया है। भारतीय धर्म केवल कर्म या परंपरा ही नहीं, अपितु यह उस भावना का प्रतिफल है जो व्यक्ति को

मानवता, सत्य और नैतिकता के मार्ग पर ले जाती है।

श्री अरविन्द के अनुसार 'मेरा धर्म मानव है।' इसका अर्थ यह है कि धर्म अनन्त मानवता से परिभाषित होता है और प्रेम एवं सत्य के लिए मनुष्य को प्रेरित करता है। सत्य केवल धार्मिक या सांस्कृतिक अवधारणा नहीं है; यह मानवीय सत्य है, सर्वयुगीन है और इसे किसी भी व्यक्ति की अस्थायी उन्मत्तता दीर्घकाल तक नहीं बदल सकती।

भारतीय धर्म में आध्यात्मिक अनुभूति की विशेष भूमिका रही है। यह अनुभव मानव चेतना की स्वतंत्रता और सृजनशीलता को पुष्ट करता है। यह केवल ज्ञान नहीं, बल्कि आनन्दानुभूति भी है-स्वयं को जानने और आत्मविकास की अनुभूति। यही आनन्दाभूति भारतीय संस्कृति का विशिष्ट पक्ष बनती है। भारतीय धर्म किसी किताब, व्यक्ति या किसी विशिष्ट संस्था से बाँधा नहीं गया है। इसी कारण यह सर्वग्राह्य और अविच्छिन्न रूप से गतिमान रहा।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि भारतीय धर्म न केवल आध्यात्मिक रूप से, बल्कि समाज के व्यावहारिक पक्ष से भी गहराई से जुड़ा है। जीवन के व्यक्तित्व, कला और साहित्य में यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार धर्म और संस्कृति का यह समन्वय भारतीय जीवन और भारतीय पहचान का प्रतीक बनता है।

❑❑❑